सम्यक्त्व संग दृढ़ चारित पालता है,
वैराग्य से नियम से मन मारता है ।
योगी निजात्म भरका शुचि ध्यान ध्याता,
पाता अतः परम है पद को सुहाता ॥४९॥

चारित्र ही धरम निश्चय से सुहाता,
सो धर्म भी सहज साम्य स्वभाव धाता ।
है राग रोष रति से वह अन्य होता,
जीवात्म का हि परिणाम अनन्य होता ॥५०॥

वो स्वच्छ ही स्फटिक आप स्वभाव से हो,
भाई ! वही विकृत अन्य प्रभाव से हो ।
जीवात्म भी विमल आप स्वभाव से हो,
रागादि से मलिन-मैल-विभाव से हो ॥५१॥

साधर्मि-साधु जन, में अनुराग होता,
सद्भक्त देव गुरु का अनगार होता ।
सम्यक्त्व-ध्यान रत हो वह मात्र योगी,
माना गया समय में सुन शास्त्र भोगी ॥५२॥

मोही अनेक भव में जितना खपाता,
उग्राति उग्रतप से विधि को मिटाता ।
ज्ञानी त्रिगुप्ति बल से उतना खपाता,
अन्तर्मुहूर्त भर में, यह 'साधू-गाथा' ॥५३॥

जो पुण्य के उदय में निज को भुलाता,
होता विमुग्ध पर में शुभ वस्तु पाता ।
है अज्ञ ही इसलिए वह साधु होता,
ज्ञानी विराग उससे विपरीत होता ॥५४॥



भोगानुराग अघ आस्रव हेतु जैसा
मोक्षानुराग शुभ आस्रव हेतु वैसा
है मोक्ष चाह रखता बस अज्ञ होता,
शुद्धात्म से इसलिए अनभिज्ञ, होता ॥५५॥

पा कर्म जन्य कुछ इन्द्रिय ज्ञान को है,
ना मानता सहज केवलज्ञान को है ।
अज्ञान धाम फलतः वह कहाता,
धिक्कार दोष बिन शासन में लगाता ॥५६॥

जो मूढ़-ज्ञान-बिन-चारित हो रहा है,
सम्यक्त्व से रहित तापस हो रहा है
संवेग आदि गुण में रुचि भी न लाता,
वो मात्र नग्नपन क्या सुख को दिलाता ? ॥५७॥

माने सचेतन अचेतन को वही है,
है अज्ञ ही, चतुर विज्ञ अहो नहीं है ।
भाई सचेतन सचेतन को बताता,
ज्ञानी वही नियम से जग में कहाता ॥५८॥

विज्ञान के बिन नहीं तप कार्यकारी,
विज्ञान भी तप बिना नहिं कार्यकारी ।
भाई अतः तप तपो तुम ज्ञान द्वारा,
निर्वाण प्राप्त करना सुख खान प्यारा ॥५९॥

निर्वाण का नियम से जब पात्र होते,
निर्भ्रान्त तीर्थंकर वे चहु ज्ञान धोते ।
भाई तथापि तपते तप भी रुचि से,
यों जान, ज्ञान समवेत तपो इसी से ॥६०॥

लो मात्र नग्न मुनि है तज वस्त्र सारा,
है भाव लिंग बिन बाहर लिंग धारा ।
निर्भ्रान्त भ्रष्ट निज चारित से रहा है,
धिक्कार ! मोक्ष पथ नाशक सो, रहा है ॥६१॥

जो तत्त्व-बोध सुख पूर्वक हाथ आता,
आते ही दु:ख झट से वह भाग जाता ।
वे काय-क्लेश-समवेत अत: सुयोगी,
तत्त्वानुचिन्तन करें, तज भोग भोगी ॥६२॥

निद्रा तथा अशन आसन जीत लेना,
भाई जिनेन्द्र सत में रुचि नित्य लेना ।
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा,
शुद्धात्म ध्यान करना मन से सुचारु ॥६३॥

चारित्रवान निज आतम ही रहा है,
सम्यक्त्व बोध गुण मंडित भी रहा है ।
ध्यातव्य सो सतत है मन से सुचारु,
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा ॥६४॥

श्रद्धा समेत निज आतम जान पाना,
सद्भावना स्वयम की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुड़ाना,
दुर्लभ्य पूर्ण क्रमश: सब ये सुजाना ! ॥६५॥

जो वासना विषय की जबलौं रखेगा,
शुद्धात्म को न नर वो तब लौं लखेगा ।
योगी जभी विषय से अति दूर होता,
शुद्धात्म को निरखता सुन मूढ़ ! श्रोता ॥६६॥



कोई सुजान कर आतम को तथापि,
सद्भाव से स्खलित हो मतिमंद पापी ।
है झूलते विषय में अति फूलते हैं
वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥६७॥

शुद्धात्म जान जिन भाव समेत तारे,
योगी विरक्त विषयादिक को बिसारें,
मनोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते,
वे छोड़ चार गतियाँ निजधाम जाते ॥६८॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
मोहाभिभूत बन के पर को लखेगा ।
होगा स्व से स्खलित हो विपरीत जाता,
मूढ़ात्म हा न फलत: भव जीत पाता ॥६९॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
उत्साह से सुदृढ़ चारित हो रहा है ।
शुद्धात्म ध्यानरत निर्विषयी विरागी,
निर्वाण प्राप्त करते तज राग-रागी ! ॥७०॥

ना मोह राग पर में करना कराना,
संसार कारण रहा गुरु का बताना ।
योगी अत: नित करें निज भावनाएँ,
वाक्काय से मनस से तज वासनाएँ ॥७१॥

निन्दा मिले स्तुति मिले न विभाव होना,
बन्धू रहो रिपु रहो समभाव होना ।
सो साम्य ही विपद में सुख सम्पदा में,
माना गया चरित है धरता सदा में ॥७२॥

चारित्र मोह विधि से सहसा घिरे हैं,
स्वच्छन्द हैं समिति संयम से निरे हैं ।
वैराग्य हीन, जड़ यों बकते यहाँ हैं,
सद ध्यान योग्य यह काल नहीं अहा है ! ॥७३॥

सम्यक्त्व ज्ञान बिन जीवन जी रहे हैं,
भोगोपभोग रस सादर पी रहे हैं
जो ध्यान योग्य यह काल नहीं बताते,
वे ही अभव्य, नहि, मोक्ष कदापि जाते ॥७४॥

पाले न पंच व्रत पालन की न इच्छा,
धारे न गुप्ति समिती धरते न दीक्षा ।
चारित्र बोध बिन यों जड़ ही पुकार,
है ध्यान योग्य यह काल नहीं विचार ॥७५॥

लो धर्म ध्यानरत, भारत देश में भी,
साधु मिले दुखद पंचम काल में भी ।
ऐसे निजात्म रत साधु जिन्हें न माने,
वे अज्ञ मूढ़ कहलाय, सुनो सयाने ॥७६॥

ज्ञानादि रत्नत्रय से शुचि हो सुहाते,
लो आज भी मुनि निजातम ध्यान ध्याते ।
लौकांतिका सुरप या फलरूप होते,
आ स्वर्ग से मुनि बने शिव को संजोते ॥७७॥

हो पाप पंक मल से मन को बिगारा,
हा साधु ने यदपि है जिन लिंग धारा ।
पै पाप मात्र करता दिन रैन पापी,
पाता न मोक्ष पथ को तजता तथापि ॥७८॥



जो पंचधा वसन को रखते सदा है,
है मूढ़ याचक, रखे धन सम्पदा है ।
हा ! पाप कार्य भर में रस ले रहे हैं,
सन्मार्ग को बस जलांजलि दे रहे हैं ॥७९॥

सारे परीषह सहे अनिवार्य भाते,
हैं हेय मान तजते अघ कार्य तातैं ।
निर्ग्रन्थ हैं विगत मोह कषाय जेता,
वे मोक्ष मार्ग भजते दृग के समेता ॥८०॥

हा ! तीन लोक भर में कुछ है न मेरा,
होगा, न था, न अब है, बस मैं अकेला ।
योगी निरन्तर अहो इस भांति गाता,
जाता स्वधाम ध्रुव शाश्वत शान्ति साता ॥८१॥

जो भक्त देव गुरु के मन से बने हैं,
निर्वेग रूप रस में सहसा सने हैं ।
शुद्धात्म ध्यानरत निश्चल भी रहे हैं,
वे ही विमोक्ष पथ से चल भी रहे हैं ॥८२॥

आत्मार्थ, आतम निजातम में समाता,
सच्चा सुनिश्चित चरित्र वही कहाता ।
हे भव्य ! पावन पवित्र चरित्र पालो,
पालो अपूर्व पद, निज को दिपालो ॥८३॥

आकार से पुरुष आतम शैल योगी,
सम्यक्त्व ज्ञानमय है विमलोपयोगी ।
योगी सदैव करता निज ध्यान प्यारा,
निर्द्वन्द्व आप बनता हर पाप सारा ॥८४॥

धर्मोपदेश इस भांति हमें सुनाया,
श्रामण्य क्या श्रमण का जिनने बताया ।
सागार धर्म सुन लों भव को मिटाता,
उत्कृष्ट कारण रहा, शिव का सुहाता ॥८५॥

सम्यक्त्व का प्रथम श्रावक ! लो सहारा,
जो है अकम्प, गिरि सा शुचि शांत धारा ।
सम्यक्त्व पे हि तुम ध्यान अहो जमा लो,
हो दुःख का क्षय यही कि प्रयोजना हो ॥८६॥

सम्यक्त्व ध्यान करता यदि है सुचारा,
भाई सुनो वह रहा समदृष्टि वाला ।
सम्यक्त्व से सहित जो लसता सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को वह ही मिटाता ॥८७॥

जो भी हुए विगत में शिव सिद्ध प्यारे,
होंगे भविष्य भर में कटि बद्ध सारे ।
ज्यादा कहाँ तक कहूँ महिमा निराली,
सम्यक्त्व ही वह रही, सुखदा शिवाली ॥८८॥

है धन्य शूर नर श्रेष्ठ कृतार्थ सारे,
वे ही प्रकाण्ड बुध पंडित पूज्य प्यारे ।
लो स्वप्न में तक कलंकित न किया है,
सम्यक्त्व को विमल धारण ही किया है ॥८९॥

निर्ग्रन्थ मोक्षपथ हो गुरु ग्रन्थ त्यागी,
वे देव अष्ट दश दोष बिना विरागी ।
हिंसा बिना धरम हो सबको सुहाता,
श्रद्धान होय इनमें "दृग" नाम पाता ॥९०॥



जो सर्व संग बिन संयत हो रहा हो,
है जात रूप शिशु सा मुनि हो रहा हो ।
सग्रन्थ लिङ्ग मुनि का नहिं ध्यान देना,
सम्यक्त्व प्राप्त करना पहचान लेना ॥९१॥

जो देव शास्त्र गुरु कुत्सित शील वाले,
हिंसादि में निरत निर्दय शील वाले,
मिथ्यात्व मंडित इन्हें नमते विचारे,
लज्जाभिभूत भय गारव भाव धारे ॥९२॥

भोगार्थ-राज भय से बन साधु मोही,
है पूजता यदि कुदेव कुसाधु को ही ।
मिथ्यात्व धारक सुनिश्चित ही रहा है,
सम्यक्त्व का न वह धारक ही रहा है ॥९३॥

निर्दिष्ट धर्म जिनसे सुख पूर्ण प्याला,
सो धर्म श्रावक करे समदृष्टि वाला ।
मिथ्यात्व धारक रहा वह भूल जाता,
सद्धर्म से सतत जो प्रतिकूल जाता ॥९४॥

मिथ्यात्व धारक कहीं सुख को न पाता,
भाई अनेक कटु दुस्सह दुःख पाता ।
है बार-बार मृति जन्म जरा गहाता,
संसार में सुचिर जीवन है बिताता ॥९५॥

मिथ्यात्व कौन समदर्शन कौन जानो,
क्या दोष क्या गुण रहें इनके पिछानो ।
धारो उसे अब तुम्हें रुचता सुहाता,
क्या लाभ है अधिक वाचन है न साता ॥९६॥

लो बाह्य संग तज नग्न भले बने हैं,
मिथ्यात्व रूप मल में फिर भी सने हैं ।
क्या लाभ हो तप तपे स्थित मौन से क्या ?
जाने न साम्य निज का निज गौण से क्या ? ॥९७॥

है दोष मूल गुण में मुनि हो लगाता,
पै बाह्य उत्तर गुणादिक को निभाता ।
पाता न सिद्धि सुख को बिन संग का है,
होता विराधक निरा जिन लिंग का है ॥९८॥

मासोपवास करले कर क्या करेगा,
आतापनादि तप ले तप क्या करेगा ।
तू बाह्य कर्म कर केवल क्या करेगा,
जाता विलोम निज से सुख क्या मिलेगा ? ॥९९॥

पालो अनेक विधि चारित को बढ़ाओ,
भाई भले सकल शास्त्र पढ़ो, पढ़ाओ ।
वे सर्व बाल श्रुत चारित ही कहाते,
शुद्धात्म से यदि अरे विपरीत जाते ॥१००॥

साधू सदा विमुख अन्य पदार्थ से है,
वैराग्य लीन निज लीन यथार्थ से है ।
आत्मीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होते,
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते ॥१०१॥

मूलोत्तरादि गुण से तन को सजाया,
स्वाध्याय ध्यान भर में मन को लगाया ।
आदेय हेय जिनको सब ज्ञान होते,
साधू गहे स्वपद वे जिन आप्त होते ॥१०२॥



आत्मा निजी नमन योग्य नमस्कृतों से,
आत्मा निजी परम स्तुत्य सुसंस्तुतों से ।
ध्यातव्य भी बस वही सब ध्यानियों से,
तद्रूप को निरख लो तुम ज्ञानियों से ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध शिव से परमेष्ठि प्यारे,
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
ये आत्म से निरख लो निज में सुचारु,
आत्मा अतः शरण हो मम हो सहारा ॥१०४॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित गण्य प्यारे
चारों निजात्म गुण हैं गुरु यों पुकारे ।
तथा इन्हें स्वयम में दिखते सुचारु,
आत्मा अतः शरण हो मम हो सहारा ॥१०५॥

यों मोक्ष के प्रथम पाहुड को बताया,
धर्मोपदेश, जिन ने हमको सुनाया
जो भी पढ़े सुन इसे अविराम भावें,
श्रद्धा समेत स्थिर शाश्वत धाम पावें ॥१०६॥

दोहा

रत्नत्रय ही त्रितय है निश्चय और व्यवहार ।
प्रथम साध्य साधक द्वितीय रत्नत्रय सार ॥१॥

नग्न दिगम्बर बिन बने, रत्नत्रय नहिं होय ।
रत्नत्रय के बिन कभी, निज सुख मोक्ष न होय ॥२॥

# लिंग पाहुड

मैं वन्दना कर उन्हें, परमेष्ठियों को,
सिद्धों तथा जिनवरों जिन अर्हतों को ।
सत् प्राभृती श्रमण लिंग सुखी बनाता,
संक्षेप से तुम सुनो तुमको सुनाता ॥१॥

सद्धर्म से सहित हो वह लिंग सारा,
पावे न धर्म-धन, केवल-लिंग द्वारा ।
तू जान भावमय धर्म अरे ! रुची से,
है मात्र लिंग वह व्यर्थ रहा इसी से ॥२॥

निर्ग्रन्थ लिंग जिसने मुनि हो सुधारा,
पै पाप पंक मल से मन को बिगारा ।
वो "भाव लिंग" जिसकी करता हँसी है,
सो अन्य साधु-मुख में लगती मसी है ॥३॥

निर्ग्रन्थ रूप धर वाद्य मनो बजाता,
है नित्य नृत्य करता रति गीत गाता,
है पाप पंक मल से मन पै लिपाता,
होता नहीं श्रमण वो पशु ही कहाता ॥४॥

जो संग के ग्रहण रक्षण में लगे हैं,
है आर्त्त ध्यान करते मुनि हो डिगे हैं ।
है पाप पंक मल से मन को लिपाते,
होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥५॥

खेले जुवा कलह वाद वृथा करें हैं,
मानी प्रमत्त बन के मद से भरे हैं ।
निर्ग्रन्थ बाह्य मुनि यद्यपि हैं तथापि,
पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥६॥



निर्ग्रन्थ हो सहित मैथुन कार्य से हैं,
पापी बने उदय पूर्ण अनार्य से हैं
है पाप रूप मल से मन ओ लिपाते,
संसार के विपिन में भ्रम दुःख पाते ॥७॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत से शिव हेतु प्यारे,
मोही बनो मुनि परंतु इन्हें न धारें ।
हैं आर्त्त ध्यान भर में मन को लगाते,
संसार को भ्रमित और अतः बनाते ॥८॥

मोही, विवाह आदि सहित का कराते,
वाणिज्य जीव बध ओ कृषि भी कराते ।
निर्ग्रन्थ नग्न मुनि यद्यपि है तथापि,
पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥९॥

चोरों नृपों यदि परस्पर में लड़ाता,
है पाप कार्य करता पर से कराता ।
तासादि खेल मुनि होकर खेलता है,
सो आत्म को नरक में ही ढकेलता है ॥१०॥

सम्यक्त्व ज्ञान चरणों व्रत पालनों में,
आवश्यकों नियम संयम सत तपों में ।
निर्ग्रन्थ हो यदि मनो दुख मानता है,
जाता अतः नरक सो अनजानता है ॥११॥

हो लोलुपी सरस भोजन का बना है,
कामादि पाप भर में फलतः सना है ।
होता नहीं श्रवण वो व्यभिचारकर्त्ता,
मायाभिभूत पशु है मद मार धर्त्ता ॥१२॥

लो भोजनार्थ सहसा बस भाग जाते,
साधर्मि से कलह भी कर भात खाते ।
विद्वेषपूर्ण रखते मुनि सन्त से हैं,
वे दूर ही श्रमण हो शिव पंथ से हैं ॥१३॥

निन्दा परोक्ष परकी करता बनाता,
दोषी, प्रदत्त बिन दान स्वयं गहाता ।
निर्ग्रन्थ लिंग जिसने बस बाह्य धारा,
सो चोर सा श्रमण है नहिं साम्य धारा ॥१४॥

हैं खोदते अवनि को चलते दिखाते,
हैं दौड़ते उछलते गिर भाग जाते ।
ईर्यामयी समिति धारक, ना कहाते,
होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥१५॥

हिंसादि जन्य विधि बंध, नहीं गिनाता,
खोदे धरा तरुलता दल को गिराता ।
है छेदता श्रमण हो तरु के गणों को,
हो, साम्य हीन, धरता पशु के गुणों को ॥१६॥

दोषावरोप करता मुनि सज्जनों में,
आसक्त रात दिन है महिला जनों में ।
सम्यक्त्व ज्ञान गुण से अति दूर होता,
होता नहीं श्रमण वो पशु मूढ़ होता ॥१७॥

है धारते परम स्नेह असंयतों में,
किंवा विमुग्ध निज शिष्य सुसंयतों में ।
आचार से विनय से च्युत हो रहे हैं,
होते नहीं श्रमण वे पशु तो रहे हैं ॥१८॥



पूर्वोक्त दुर्गुण लिए मुनि संयतों में,
सत् संघ में रह रहा गुणधारियों में ।
होता विशारद जिनागम में तथापि,
होता नहीं श्रमण भावविहीन पापी ॥१९॥

शिष्यादि नारिजन में रखता, दिलाता,
शास्त्रादि ज्ञान व्रत भी उनको सिखाता ।
पार्श्वस्थ से अधिक निंद्य रहा तथापि,
होता नहीं श्रमण संघ रहा वो पापी ॥२०॥

आहार लेत व्यभिचारिण के यहाँ है,
प्रशंसा करे स्तुति करे उसकी अहा है ।
वे बाल अज्ञ निज भाव-विहीन पापी,
होते नहीं श्रमण, लिंग धरे तथापि ॥२१॥

यों लिंग प्राभृत रहा मुनिलिंग प्यारा,
सर्वज्ञ ने यह कहा हमको सुधारा ।
जो भी इसे मनन से गहि पाल पाता,
औचित्य ! वो परमोत्तम धाम जाता ॥२२॥

## दोहा

नग्न मात्र बाहर बना, भीतर भरी कषाय,
शिव सुख पाता वह नहीं, बसता नहीं अकाय ॥१॥

बाहर-भीतर एकसा, यथा जात जिन लिंग ।
दर्पण सम शुचि यदि बना, वह नर बने अलिंग ॥२॥

# शील पाहुड़

उत्फुल्ल लाल पद पद्म भले निराले,
हैं वीर के विमल नेत्र विशाल प्यारे ।
मैं वन्दना कर उन्हें त्रय योग द्वारा,
हूँ शील प्राभृत सुनो कहता सुचारा ॥१॥

ये ज्ञान शील नहिं आपस में विरोधी,
ऐसा कहे जिन सुधारक पूर्ण बोधि ।
जो शील से रहित जीवन है बिताते,
जो ज्ञान को विषय सेवन से मिटाते ॥२॥

श्रद्धा समेत निज पावन ज्ञान पाना,
सद्भावना स्वयम् की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुड़ाना,
दुर्लभ्यपूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना ॥३॥

हा ! वासना विषय की जब लौं रखेगा,
विज्ञान को न नर वो तब लौं लखेगा ।
पंचाक्ष के विषय में यदि लीन होता,
ना पूर्व बद्ध विधि को मति हीन होता ॥४॥

जो मूढ़, ज्ञान बिन चारित ढो रहा है,
निर्ग्रन्थ साधु, दृग के बिन हो रहा है ।
आतापनादितप संयम ना निभाना,
सो सर्व ही तप निरर्थक ही कहाता ॥५॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
विज्ञान संग दृढ़ चारित ढो रहा है ।
निर्ग्रन्थ संयम समेत, तपे, सहाता,
हो अल्प भी तप महाफल है दिलाता ॥६॥



कोई सुजान कर ज्ञानन को तथापि,
संभोग लीन नर है मतिमन्द पापी ।
हैं झलते विषय में अति फूलते हैं,
वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥७॥

विज्ञान ज्ञान निज भाव समेत सारे,
योगी विरक्त विषयादिक को विसारे ।
शीलोत्तरादि गुण से तपते सुहाते,
शंका न चार गति तोड़ स्वाधाम जाते ॥८॥

तपा सुहाग नवणीतमय लेप द्वारा,
होता विशुद्धतम भासुर स्वर्ण प्यारा ।
तैसा ही ज्ञान जल से यह आतमा है,
होता विशुद्धतम है परमातमा है ॥९॥

ज्ञानी भला बन गया मद धारता है,
वो मूढ़ कापुरुष हो न विचारता है ।
तत्वों अतः विषय में रम मान होता,
तोभी वही, न उसको यह ज्ञान होता ॥१०॥

सम्यक्त्व दर्शन लिए तपते तपस्वी,
विज्ञान आचरण में रमते यशस्वी ।
चारित्र शुद्ध बनता उनका स्वतः है,
निर्वाण लाभ मिलता उनको अतः है ॥११॥

पा शुद्ध दर्शन सुरक्षित शील वाले,
चारित्र को सुदृढ़ से, नहिं ढील पाले ।
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते,
निर्वाण पा नियम से भव मुक्त होते ॥१२॥

रागी गृही तदपि वो पथ पा सकेगा,
सम्यक्त्व-प्राप्त जिसको शिव जा सकेगा ।
उन्मार्ग का पथिक ना सुख इष्ट पाता,
निस्सार ज्ञान उसका अति कष्ट पाता ॥१३॥

सद्ज्ञान शीलव्रत को यदि न निभाता,
दुस्शास्त्र का कुमत का यदि गीत गाता ।
होगा अनेक विध आगम ज्ञान वाला,
आराधना-रहित दूषित ज्ञान शाला ॥१४॥

शोभे युवा सुभग भासुर-देह-धारी,
सत्-शील से रहित हैं यदि हैं विकारी ।
है गर्व रूप-धन का करता तथापि,
निस्सार व्यर्थ उसका वह जन्म पापी ॥१५॥

वैशेषिकादि व्यवहार सुमानता है,
औ न्याय के विषद शास्त्र सुजानता है ।
होता विशारद जिनागम में तथापि,
सत्शील उत्तम रहा सबमें अपापी ! ॥१६॥

जो भव्य शील गुण मण्डितनाथ होते,
है पूजते सुर उन्हें नत माथ होते ।
वे प्रेम पात्र तक भी श्रुत पारगामी,
होते नहीं जगत में गत-शील, कामी ॥१७॥

हो वृद्ध हो स्वतन से कुबड़े भले हों,
हो जाँत पाँत कुलहीन निरे गले हो ।
सत्शील-गीत जिनका मन गा रहा है,
मानुष्य जीवित अभी उनका रहा है ॥१८॥



अस्तेय सत्य, दम, जीवदया, सुप्यारी,
औ ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह दुःख हारी ।
सम्यक्त्व, ज्ञान, तप भव्य सुनो सयाने,
हैं शील के सकल ये परिवार माने ॥१९॥

है शील ही विमल सत पथ ही सही है,
है ज्ञान शुद्ध शुचि दर्शन भी वही है ।
पंचाक्ष के विषय का रिपुशील ही है,
सोपान, मोक्ष घर का, सुख शील भी है ॥२०॥

सर्पादिकों विषधरों त्रस स्थावरों को-
भी मारते विषय, ये विष ना सबों को ।
हैं वस्तुतः विषय दारुण दुःख हाला,
है छोड़ता विबुध ही इसको निहाला ॥२१॥

जो एक बार विष सेवन हा ! करेगा,
तो एक बार वह जीवन में मरेगा ।
धिक्कार है विषय सेवन जो करेगा,
सो बार-बार भव कानन में मरेगा ॥२२॥

पंचाक्ष के विषय में मन जो लगाना,
हो नारकी नरक में अति दुःख पाना ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो दुःख ही उठाना,
हो हीन देव दिवि में अपमान पाना ॥२३॥

जैसा कि शुष्क तृण को यदि हो उठाना,
हे ! भव्य ! द्रव्य तब क्या पड़ता लगाना ?
त्यों विज्ञ, शील तप से मन पूर्ण जोड़े,
हाला लखे विषय को खल भाँति छोड़े ॥२४॥

लो अर्ध गोल समगोल सुडोल प्यारे,
ज्यों अंग देह भर में लसते निराले ।
हो प्राप्त ईदृश सुदेह, तथापि भाई,
शोभे तभी कि जब शील धरे सुहाई ॥२५॥

दुःशास्त्र को पढ़ कुधी कुमतानुगामी
पंचाक्ष के विषय में रत मूढ़ कामी ।
संसार में भटकते परको भ्रमाते,
जैसे कि नित्य भ्रमते घटि यंत्र भाते ॥२६॥

रागी हुए विषय के विषयी बने थे,
बाँधे कुकर्म दल को पर में सने थे,
काटे कृतार्थ मुनि ये उनको गुणों से ।
शीलों सुसंयम तपों मुनि के व्रतों से ॥२७॥

पूरा भरा रतन से जलधी तथापि,
ज्यों शोभता सलिल से सुन मूढ़ पापी ।
दानादि रत्न विनयादि तपादि ढोता,
पै शील से विलसता मुनि मुक्ति जोता ॥२८॥

गो श्वान गर्दभ तथा पशु आदिकों को,
होता विमोक्ष नहिं है महिला जनों को ।
देखो जरा तुम सुनो ! अयिभव्य श्रोता,
धारें करें पुरुष ही पुरुषार्थ चौथा ॥२९॥

ज्ञानी बना विषय लोलुप पूर्ण पापी,
मानो ! विमोक्ष मिलता उसको तथापि ।
क्यों ? वो भला नरक सात्यकि पुत्र जाता,
तू ही बता जबकि था दस पूर्व ज्ञाता ॥३०॥



आत्मा सुशील बिन, केवल ज्ञान द्वारा,
होता विशुद्ध, यदि यों बुधने पुकारा ।
तो क्यों नहीं विमल शुद्ध हुआ प्रमाता,
वो रुद्र भी यदपि था दश पूर्व ज्ञाता ॥३१॥

जो नारकीय दुख वेदन झेलते हैं,
आसक्त हो विषय में नहिं झूलते हैं ।
आ, श्वभ्र से पद गहें अरहन्त का है,
है वर्धमान मत यों मत सन्त का है ॥३२॥

हो शील, मोक्ष पद की मिलती सुधा है,
भाई, अतीन्द्रिय अनश्वर सम्पदा है ।
प्रत्यक्ष ज्ञान दृग पा जिन यों बताया,
सर्वज्ञ हो विविध बोध हमें सुनाया ॥३३॥

सम्यक्त्व वीर्य तप चारित ज्ञान प्यारे,
आचार पंच निज आतम के पुकारे ।
ये पूर्व बद्ध विधि को क्षण में जलाते,
ज्यों वायु औ अनल कानन को जलाते ॥३४॥

हो दूर भी विषय से मुनि दक्ष सारे,
ध्यानाग्नि से विधि जला मन-अक्ष-मारे ।
सत शील से विनय से तप से लसे हैं,
वे सिद्ध सिद्धगति में बस जा बसे हैं ॥३५॥

लावण्य पूर्ण तन मन शील वाला,
है शोभता श्रमण जीवन वृक्ष प्यारा ।
सो शील मंडित, शुभाश्रय हो इसी का,
फैले वितान गुण का जग में उसी का ॥३६॥

सद्ध्यान दर्शन तथा शुचि ज्ञान प्यारा,
औ वीर्य के बिन नहीं यह योग सारा ।
सम्यक्त्व दर्शन बिना नहिं बोधि होता,
है जैन शासन यही सुन भव्य श्रोता ॥३७॥

साराभिभूत, जिनके, मत को गहे हैं,
भोगादि भी तज तपोधन भी हुए हैं ।
है शील के सलिल से मन को धुलाते,
वे मोक्ष धाम सुख को अनिवार्य पाते ॥३८॥

मूलोत्तरादि गुण से विधि को घटाया,
पा साम्य दु:ख सुख में मन को धुलाया ।
लो चार घाति रज को फलत: उड़ाया,
आराधना, बन जिनेन्द्र हमें, दिखाया ॥३९॥

निर्ग्रन्थ रूप शुचि दर्शन युक्त होना,
सम्यक्त्व है जिनप में, शुभ भक्ति होना ।
सो शील है विषय के प्रति राग ना हो,
वो "ज्ञान" कौन कब है इनके बिना हो ? ॥४०॥

- दोहा -

मणियों में वर नील ज्यों, मुनिगण गण में शील ।
शील बिना ना शिव धरो, शील करो मत ढील ॥१॥

शील बिना ना ज्ञान हो, ज्ञान बिना ना शील ।
ज्ञान निहित है शील में, निहित ज्ञान में शील ॥२॥



## भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़े धीमान् ॥१॥

## गुरु-स्तुति

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥३॥

समय-समय पर समय में, सविनय समता धार ।
सकल संग संबंध तज, रम जा, सुख पा सार ॥४॥

भव, भव भववन भ्रमित हो, भ्रमता-भ्रमता काल ।
बीता अनन्त वीर्य, बिन, बिनसुख बिन वृषसार ॥५॥

पर पद, निज पद जान, तज पर पद, भज निजकाम ।
परम पदारथ फल मिले, पल-पल जप निज नाम ॥६॥

मोक्ष-मार्ग पर तुम चलो, दुख मिट, सुख मिल जाय ।
परम सुगंधित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय ॥७॥

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश
रवि शशि से भी अधिक है, तुम में दिव्य प्रकाश ॥८॥

विषय-विषम विष है सुनो ! विष सेवन से मौत
विषय कषाय विसार दो, स्वानुभूति सुख स्रोत ॥९॥

## स्थान एवं समय-परिचय

नमन मनोरम क्षेत्र है, नैनागिरि अभिराम ।
जहाँ विचरते सुर सदा, ऋषि मन ले विश्राम ॥१॥

वर्ण गगन गति गंध का, दीपमालिका योग ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, ध्येय मिटे भव रोग ॥२॥

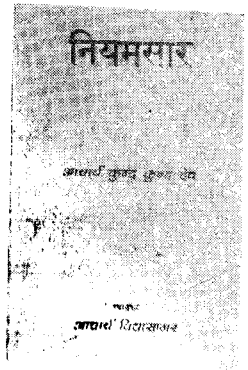


# नियमसार

मूल : नियमसार (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

# नियमसार

## मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुरनर पशु गति सब मिटे गति पंचमगति होय॥१॥

कुन्द कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय॥२॥

तरणि ज्ञान सागर गुरो तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो करसे दो आशीष॥३॥

चन्दन, चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अतिशीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन करनीत॥४॥

नियमसार, का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन यह रहा मोह मिटे परमाद॥५॥



## वसंततिलका-छन्द

सच्चे अनन्त दृग ज्ञान स्वभाव धाता,
वे वीर हैं जिन जिन्हें शिर मैं नवाता।
भाई तुम्हें नियम सार सुनो सुनाता,
जो केवली व श्रुतकेवलि ने कहा था॥१॥

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
सन्मार्ग-मार्ग-फल को जिनने बताया।
सन्मार्ग तो परम-मोक्ष-उपाय प्यारा,
निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला॥२॥

जो भी रहा नियम से करतव्य सत्ता,
सोही रहा नियम दर्शन ज्ञान वृत्ता
मिथ्यात्व आदि विपरीतन को मिटाने,
संयुक्त "सार" पद है सुन तू सयाने॥३॥

हैं मोक्ष का नियम सत्य उपाय साता,
निर्वाण ही फल रहा इसका सुहाता
प्रत्येक को यह जिनागम-गीत गाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय रूप हमें दिखाता॥४॥

लो! आप्त-आगम-सुतत्त्वन में जमाना,
श्रद्धा, नितान्त समदर्शन लाभ पाना।
हो दोष-रोष-मल से अति दूर सारे,
निर्दोष, कोष-गुण के वह आप्त प्यारे॥५॥

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे,
उद्वेग नींद भय विस्मय जन्म सारे।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे,
चिन्ता तृषादिक सदोष जिनेश टारे॥६॥

निश्शेष दोष बिन शोभित हो रहे हैं ।
कैवल्यज्ञान दृग वैभव ढो रहे है ॥
सिद्धान्त में परम आतम वे कहाते ।
दोषी कदापि परमात्मपना न पाते ॥७॥

पूर्वापरा सकल दोष विहीन प्यारा,
जो पूज्य आप्त मुख से निकला निहाला ।
सोही जिनागम रहा गुरुदेव गाते,
तत्त्वार्थ वे कथित आगम में सुहाते ॥८॥

नाना निजीय गुण पर्यय-माल धार,
थे जीव पुद्गल-ख धर्म अधर्म काल ।
जो शोभिते जगत में स्वयंमेय सारे,
"तत्त्वार्थ वे कहत हैं जिनदेव प्यारे ॥९॥

है जीव लक्षण रहा उपयोग भाता,
है ज्ञान दर्शनमयी त्रिविधा कहाता ।
"ज्ञानोपयोग" वह भी त्रिविधा निराला,
भाई स्वभावमय और विभाव शाला ॥१०॥

होता अतीन्द्रिय स्वभावज ज्ञान प्यारा,
जो नित्य "केवल" न ले पर का सहारा ।
सत् ज्ञान औ वितथ ज्ञान विभाव बाना,
दोनों मिटें मिलत कैवल का ठिकाना ॥११॥

सत् ज्ञान भी मति श्रुतावधि तीन, चौथा,
सिद्धान्त मान्य मन पर्यय ज्ञान होता ।
अज्ञान भी त्रिविध है जिन हैं बताते,
जो मत्यज्ञान कुश्रुतावधि ना सुहाते ॥१२॥



हे मित्र ! दर्शनमयी उपयोग होता,
द्वेधा, स्वभावपन और विभाव ढोता ।
होता अतीन्द्रिय स्वभावज एक प्यारा,
कैवल्य दर्शन न लें परका सहारा ॥१३॥

होता विभावमय दर्शन भी त्रिधा है,
चक्षु अचक्षु अवधी सुन तू मुधा है ।
पर्याय दो रहित कर्म उपाधि से हैं,
वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१४॥

तिर्यञ्च नारक नरामररूप सारी,
पर्याय ये बस विभावमयी हमारी ।
पर्याय जो रहित कर्म उपाधि से हैं,
वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१५॥

ये कर्म-भोग मय भूमिज भेद से हैं
होते मनुष्य द्विविधा युत खेद से हैं
हैं सप्त ही नरक की मिलती मही हैं
तो सप्तधा, समझ नारक भी वहीं हैं ॥१६॥

होते चतुर्दश विधा पशु नित्य गोते,
भाई चतुर्विध सुरा सुर सर्व होते ।
विस्तार चूंकि उनका यदि जानना है
तो "लोक भाग" जिन आगम बांचना है ॥१७॥

भोक्ता निजातम रहा चिरकाल से है,
कर्त्ता कुकर्म-जड़ का व्यवहार से है ।
भाई अशुद्धनय से भवराह राही,
रागादि को करत भोगत आतमा ही ॥१८॥

है द्रव्य दृष्टिवश आतम भिन्न न्यारा,
पूर्वोक्त भाव-दल का नहिं ले सहारा ।
पर्याय दृष्टिवश तो स्वपरावलम्बी,
किंवा नितान्त निरपेक्ष निजावलम्बी ॥१९॥

दो भेद ''स्कंध'' 'अणु' पुद्गल के पिछानो,
हैं स्कंध भेद छह दो अणु के सु जानो ।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
पै चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥२०॥

है स्थूल-स्थूल फिर स्थूल व स्थूल-सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म-स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म ।
भू नीर आतप हवा विधि-वर्गणायें,
ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥२१॥

भू-शैल-काष्ट तन आदिक जो दिखाते,
ये स्थूल-स्थूलमय स्कन्ध सभी कहाते ।
घी दूध तेज जल पुद्गल की दशायें,
ये हैं उदाहरण स्थूलन के सुनायें ॥२२॥

उद्योत छाँव रवि आतप आदि सारे,
ये स्थूल-सूक्ष्म मय स्कधन के पिटारे ।
नासादि के विषय जो बिन रूप प्यारे,
है सूक्ष्म-स्थूलमय स्कन्ध गये पुकारे ॥२३॥

जो भी बने, बन सके विधिवर्गणाएँ,
वे सूक्ष्म स्कन्ध सब हैं गुरु देव गाये ।
जो शेष स्कन्ध इनसे विपरीत सारे,
वे सूक्ष्म-सूक्ष्म इस सार्थक नाम धारे ॥२४॥



भू आदि धातु इनका जब हेतु होता,
सो मित्र कारणमयी परमाणु होता ।
पै कार्य रूप परमाणु रहा वही है,
जो स्कन्ध के क्षरण से उगता सही है ॥२५॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
आद्यन्त मध्य खुद ही अग रूप होता ।
हो खण्ड खण्ड न कभी अविभाज्य भाता,
ऐसा कहें जिन यही परमाणु गाथा ॥२६॥

दो स्पर्श एक रस गन्ध सवर्ण होता,
धारी स्वभाव गुण का परमाणु होता ।
स्पर्शादि नैक गुण का जग स्पष्ट होता,
धारी विभाव गुण का अणु स्कन्ध होता ॥२७॥

पर्याय एक रखती पर की अपेक्षा,
स्वापेक्ष एक रहती परकी उपेक्षा ।
स्कंधात्मिका परिणती जु विभावशाली,
द्रव्यात्मिका परिणती स्व स्वभाव वाली ॥२८॥

है ''द्रव्य'' निश्चय तथा परमाणु भाता,
पै स्कन्ध द्रव्य व्यवहार तथा कहाता ।
सो स्कन्ध नैक अणु से बनता इसी से,
है द्रव्य रूप व्यपदेश धरे सदी से ॥२९॥

जीवादि द्रव्य भरके अवकाश दाता,
आकाश-द्रव्य वह सार्थक नाम पाता ।
औ जीव पुद्गल की स्थिति वा गती में,
होते अधर्म पुनिधर्म निमित्त ही में ॥३०॥

होता द्विधा समय आवलि हार द्वारा,
है काल, या त्रिविध है व्यवहार वाला ।
संख्यात आवलि व सिद्ध प्रमाण वाला,
है भूतकाल सुन सांप्रत भाविवाला ॥३१॥

लो जीव से व जड़ से वह काल भावी,
होता अनन्त गुण सांप्रत काल भाई ।
त्रैलोक्य के प्रति प्रदेशन पे सुहाते,
एकैक काल अणु "निश्चय" वीर गाते ॥३२॥

रे काल का वह अनुग्रह तो रहे हैं,
जीवादि द्रव्य परिवर्तित हो रहे हैं ।
जो जीव पुदगल बिना अवशेष सारे,
धारे स्वभावमय पर्यय द्रव्य प्यारे ॥३३॥

जीवादि द्रव्य दल जो बिन काल सारा,
हैं अस्तिकाय इस सार्थक नाम वाला ।
है काय का सरल अर्थ बहु प्रदेशी,
है जैन शासन कहें सुन तू हितैषी ॥३४॥

होता मितामित अनन्त प्रदेश वाला,
सो मूर्त पुदगल इसी व्यपदेश वाला ।
आत्मा अधर्म फिर धर्म असंख्य देशी,
विश्वास धार इन में दृढ़ तू हितैषी ॥३५॥

होता उसी तरह लोक असंख्य देशी,
हो सर्व में गुरु अलोक अनन्त देशी ।
पै काल कायपन को धरता नहीं है,
वो एक देश धरता अणु सा सही है ॥३६॥



ये पाँच द्रव्य नभ धर्म अधर्म काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सुन भव्य प्यारे,
है जीव चेतन, अचेतन शेष सारे ॥३७॥

कर्मादि के उदय या क्षय से मिले हैं,
पर्याय और गुण वे मुझसे निरे हैं ।
प्राप्तव्य ध्येय निज आतम मात्र प्यारा,
जीवादि बाह्य सब हेय अपात्र न्यारा ॥३८॥

ये हर्षभाव नय निश्चय से नहीं हैं,
जीवात्म में नहिं विषाद अहर्ष ही है ।
मानापमान मय भाव विभाव से हैं,
हैं दूर जीव निज स्थान स्वभाव से हैं ॥३९॥

ना जीव में वह रहा स्थिति बन्ध स्थाना,
ना जीव में यह रहा अनुभाग स्थाना ।
लो बन्ध ही जब कि निश्चय में नहीं है,
तो जीव में उदय स्थान कहाँ ? नहीं है ॥४०॥

ना हो क्षयोपशम भाव स्वभाव स्थाना,
होते न औपशामकादि स्वभाव स्थाना ।
होते न औदयिक क्षायिक भाव स्थाना,
ये जीव के सुन सुनिश्चय से न बाना ॥४१॥

संसार संक्रमण ना कुल योनियाँ हैं,
ना रोग शोक गति जाति विजातियाँ हैं ।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशायें,
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥४२॥

आत्मा मदीय गत दोष अयोग योग,
निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोग ।
निर्मोह एक नित है सब संग त्यागी,
है देह रहित निर्मम वीतरागी ॥४३॥

संतोष कोष गत शेष अदोष ज्ञानी,
नि:शल्य शाश्वत दिगम्बर हैं अमानी ।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय नय निश्चय से अकामी ॥४४॥

संस्थान संहनन ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण स्पर्श रस गंध विकार भाई ।
ना तीन वेद नहिं भेद अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥४५॥

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥४६॥

वे मुक्त हैं जनन मृत्यु तथा जरा से,
सामान्य आठ गुण से लसते सदा से ।
जैसे विशुद्ध सब सिद्ध प्रशान्त प्यारे,
वैसे विशुद्ध नय से भवधारि सारे ॥४७॥

शुद्धात्म सिद्ध अविनश्वर है विदेही,
लोकाग्र पे स्थित अतीन्द्रिय जान देही ।
ये सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ॥४८॥



पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं ।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्ध नय से मद को हटा रे ! ॥४९॥

लो ! पूर्व में कथितभाव विभाव सारे,
है हेय द्रव्य परकीय स्वभाव टारे ।
आत्मीय द्रव्य वह अन्तर तत्व प्यारा,
आदेय है शुचि निरंतर साधु-शाला ॥५०॥

श्रद्धान हो वितथ आशय हीन प्यारा,
सम्यक्त्व है वह जिनागम में पुकारा ।
संमोह विभ्रम ससंशय हीन सारा,
सज्ज्ञान है सुखसुधारस पूर्ण प्याला ॥५१॥

श्रद्धान जो चलमलादि अगाढ़ता से,
हो शून्य, दर्शन धरो अविलम्बता से ।
आदेय हेय वह क्या ? यह बोध होना
सज्ज्ञान है उर धरो बनलो सलोना ॥५२॥

सम्यक्त्व का यह जिनागम मात्र साता,
होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता ।
पै अंतरंग यह हेतु सुनो सदा ही,
होता क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान भर से शिव पंथ होता
ऐसा नहीं चरित भी अनिवार्य होता ।
होता सुनिश्चयमयी व्यवहारवाला,
चारित्र भी द्विविध है सुन लो सुचारा ॥५४॥

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप ।
पै व्यावहार नय आश्रित ना स्वरूप,
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥५५॥

जो जीव स्थान कुल मार्गण-योनियों में,
पा जीव बोध, करुणा रखता सबों में ।
आरम्भत्याग उनकी करता न हिंसा,
वो साधु-भाव व्रत आदिम है अहिंसा ॥५६॥

संमोह रोष रति से नहिं बोलता है,
भाषा असत्य मन से बस छोड़ता है ।
होता द्वितीय व्रत सत्य महा उसी का,
साधू वही स्तवन में करता उसी का ॥५७॥

लो ! ग्राम में नगर में वन में विहार,
साधू करें पर न ले पर द्रव्य भार ।
वे स्तेय भाव तक भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥५८॥

स्त्री रूप देखकर भी मन में न लाता,
संभोग भाव उनसे मन को हटाता ।
है ब्रह्मचर्य व्रत, मैथुन भाव रीता
किंवा रहा कि जिससे मुनिलिंग जीता ॥५९॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित सार जोता ॥
है पाँचवां व्रत परिग्रह त्याग पाता,
पाता स्वकीय सुख तू दुख क्यों उठाता ॥६०॥



हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ, पै दिन में चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥६१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म शंसा,
बोले न हास्य-कटु कर्कश पूर्ण भाषा ।
स्वामी करें न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषामयी समिति में नित ले हिलोरें ॥६२॥

जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से ।
हो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से ॥
साकार अन्न दिन में यदि दान देता ।
ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥६३॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से ।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥६४॥

एकान्त हो विजन विस्तृत, ना विरोध,
सम्यक् नहीं बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसा अचित्त थल पे मल मूत्र त्यागे,
व्यत्सर्ग रूप-समिति गह साधु जागे ॥६५॥

रागादि का अशुभ भाव प्रणालियों का,
जो त्याग, कालुषमयी दुखनालियों का ।
श्री वीर के समय में व्यवहारवाली,
मानी गई कि मन गुप्ति यही शिवाली ॥६६॥

स्त्री राज की अशन चोरन की कथायें,
जो पाप तापमय है जिनसे व्यथाएँ ।
है पूर्ण त्याग इनका वच गुप्ति भाति,
या पापरूप वच त्याग सुखी बनाती ॥६७॥

जो देह की छिदन भेदन की क्रियाएँ,
किंवा सभी हलन चालन की क्रियाएँ ।
पाती विराम मुनि साधक की दशा में,
सो काय गुप्ति, धरते मिटती निशायें, ॥६८॥

रागादि का शमन जो मन से कराना,
गुप्ति रही मनस की प्रभुका बताना ।
हिंसा मयी वचन त्याग, व मौन धाना,
गुप्ती वही वचन की सुन तू निभाना ॥६९॥

हिंसादि की विरति हो तन गुप्ति होती ।
वाणी कहे जिनप की मन मैल धोती ॥
पावे विराम सब ही तन की क्रियायें
कायोतसर्ग अथवा तन गुप्ति पायें ॥७०॥

है घाति कर्म दल को जिनने नशाया,
पाये विशुद्ध गुण केवल ज्ञान पाया ।
चौंतीस सातिशय मंडित हैं सुहाते,
वे ही विशिष्ट "अरिहन्त" सुधी बताते ॥७१॥

सामान्य आठ गुण पाकर जो लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में वसे हैं ।
दुष्टाष्ट कर्ममय बन्धन को मिटाया,
वे सिद्ध, सिद्ध-पद में शिर मैं नवाया ॥७२॥



आचार पंच परिपूर्ण सदा निभाते,
पंचेन्द्रि रूप गज के मद को मिटाते ।
गंभीर नीरनिधि से गुणधीर भाते,
आचार्य वे समय में युग वीर गाते ॥७३॥

निःस्वार्थ भाव धरते कुछ भी न लेते,
शस्त्रानुसार वह भी उपदेश देते ।
सारे परीषह सहे बलवान होते,
धारी स्वरत्नत्रय के उवझाय होते ॥७४॥

आराधना स्वयम की करते सदा हैं,
व्यापार लौकिक तजे जड़ संपदा हैं ।
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन शोभत वीतमोही,
वे साधु, पूज उनको भवभीत मोही ॥७५॥

ऐसी निरन्तर रहे शुभभावनायें,
तो भेद रूप वह चारित्र हाथ आये ।
चारित्र निश्चय नयाश्रित जो कहाता,
आगे यही तुम सुनो उसको सुनाता ॥७६॥

तिर्यञ्च भाव नहीं नारक भाव मैं हूँ,
ना देव भाव नहीं मानव भाव मैं हूँ ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७७॥

मैं जीव थान नहीं हूँ गुण थान ना हूँ,
भाई सुनो विविध मार्गण थान ना हूँ ।
मैं वस्तुतः न इन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७८॥

मैं हूँ नहीं युवक बालक भी नहीं हूँ,
हूँ वृद्ध भी न उन कारण भी नहीं हूँ ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७९॥

मैं रोष कोष नहिं राग कभी नहीं हूँ,
मोही नहीं व उन कारण भी नहीं हूँ ।
मैं वस्तुतः न इन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८०॥

मैं क्रोध रूप नहिं हूँ मद मान ना हूँ,
माया न लोभ उन कारणवान ना हूँ ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८१॥

यों भेद ज्ञानमय भानु उगायमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ॥८२॥

रागादि भाव मलको मन से हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि जो निज ध्यान ध्याता ।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता,
सच्चा प्रतिक्रमण-लाभ वही उठाता ॥८३॥

आराधनामय सुधारस नित्य पीते,
छोड़े विराधन, सभी अघसे सुरीते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु यों बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८४॥



साधू अनाचरण पूरण छोड़ते हैं,
स्वाचार में स्वयम को दृढ़ जोड़ते हैं ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८५॥

उन्मार्ग में विचरते मन को हटाते,
सन्मार्ग में स्वयम को थिर है लगाते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८६॥

जो शल्य भाव तजते वह साधु होते,
निःशल्य भाव भजते अघ आशु खोते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८७॥

भाई अगुप्तिमयभाव स्वयं बिसारे,
औ तीन गुप्तिमय भाव अहो सुधारे ।
साधू "प्रतिक्रमण" वे गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन है बिताते ॥८८॥

जो आर्त रौद्रमय ध्यान सदा बिसारे,
पै धर्म शुक्ल मय ध्यान सदा सुधारे ।
वे ही प्रतिक्रमण साधु प्रशान्त प्यारे,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन को सुधारे ॥८९॥

जीवात्म ने अमित बार अरे सदीसे,
मिथ्यात्व आदि सब भाव किए रुचि से ।
सम्यक्त्व आदि समभाव किए नहीं है,
शुद्धात्म दर्शन अवश्य किए नहीं है ॥९०॥

मिथ्यात्व-ज्ञान-व्रत की जड़ काटता है,
संस्कार भी न उनका रख डालता है ।
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत को उर में बिठाता,
सोही प्रतिक्रमण लाभ अहो उठाता ॥९१॥

है सर्व श्रेष्ठ निज आत्म पदार्थ साता,
हो आत्म में स्थित यती विधि को नाशता ।
सच्चा प्रतिक्रमण आतम ध्यान होता,
तू आत्म ध्यान कर, केवल ज्ञान होता ॥९२॥

सध्यान रूप सर में अवगाह पाता,
साधू-स्वदोष मल को पल में धुलाता ।
सद्ध्यान ही विषमकलमष पातकों का,
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणों का ॥९३॥

जो भी प्रतिक्रमण नामक शास्त्र बोले,
भाई प्रतिक्रमण की विधि नेत्र खोले ।
जानो यथाविधि उसे उस भावना को
भाना प्रतिक्रमण है तज वासना को ॥९४॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे,
साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे ।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाते,
वे प्रत्याख्यान गुण धारक है कहाते ॥९५॥

मेरा स्वभाव वर केवल ज्ञान वाला,
कैवल्य दर्शन मदीय स्वभाव शाला ।
कैवल्य शक्ति मम मात्र स्वभाव ऐसा,
ज्ञानी करे सुखद चिंतन को हमेशा ॥९६॥



लो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है,
दृष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता,
मैं ही रहा वह, सुधी इस भांति गाता ॥९७॥

स्थित्यादि भेदवश बंध चतुर्विधा है,
आत्मा परन्तु उससे लसता जुदा है ।
"सो मैं" निरंतर विचार करे उसी में,
ज्ञानी निवास कर नित्य रहे निजी में ॥९८॥

मैं तो मदीय ममता द्रुत त्यागता हूँ,
निर्मोह भाव गहता नित जागता हूँ ।
आत्मा मदीय अवलोकन एक मेरा,
छोड़ूँ सभी पर, रहूँ बन मैं अकेला ॥९९॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो ! मैं ।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१००॥

है जीव एक मरता जग में मृधा है,
है एक ही जनमता रहता सदा है ।
हो एकका मरण भी जब अन्त वेला,
हो मुक्त, कर्मरज से तब भी अकेला ॥१०१॥

पूरा भरा दृग विबोध मयी सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेषविभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥१०२॥

जो भी दुराचरण हैं मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता ।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं,
तो बार बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥१०३॥

ना वैरभाव मम हो जग में किसी से,
हो साभ्य-भाव त्रस स्थावर से सभी से ।
आशा सभी तरह की तजना कहाती,
सच्ची समाधि अनुपाधि-मुझे सुहाती ॥१०४॥

साधू कषाय तज इंद्रिय जीत होता
संसार के दुखन से भयभीत होता ।
सारे परीषह सहे नित अप्रमादी,
हो प्रत्यख्यान उसका गुरु ने बतादी ॥१०५॥

यों जीव भेद, विधि भेदन का सुचारा,
अभ्यास है कर रहा जग को विसारा,
सो संयती नियम से बस धार पाता,
है प्रत्यख्यान पद को भव पार जाता ॥१०६॥

नो-कर्म-कर्म बिन शाश्वत है सुहाता,
होता विभावगुण पर्यय हीन साता ।
ऐसी निजात्म छवि का यदि ध्यान ध्याता,
आलोचना श्रमण वो उरधार पाता ॥१०७॥

आलोचना अविकृति करुणा निराली,
आलुंचना विमलभाव विशुद्धि प्यारी ।
आलोचना चउविधा जिन शास्त्र गाता,
जो भी धरे परम पावन पात्र पाता ॥१०८॥



आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे,
वे साम्य के सदन में सहसा सुहावे,
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में,
आलोचना बस यही जिन देशना में ॥१०९॥

ऐसा अपूर्व बल को वह धारता है,
आमूल कर्ममय वृक्ष उखाड़ता है ।
स्वाधीन शाश्वत मय भाव स्वकीय होता,
आलोचना वह वहा भवनीय होता ॥११०॥

आत्मा स्वकर्म दल से अति भिन्न न्यारा,
हीराभ शुभ्र गुणधाम अखिन्न प्यारा ।
माध्यस्थ भाव धर यों मुनि भा रहा हो,
सिद्धान्त में अविकृती-करुणी रहा वो ॥१११॥

मायाभिमान - मदमोह - विहीन होना,
है भाव शुद्धि जिससे शिव सिद्धि लोना ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥११२॥

जो भाव है सुगति शील व्रतों यमों का,
प्रायश्चिता वह सही दम शं-प्रदों का ।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता ।
होऊँ अतीत विधि से विधि ज्यों विधाता ॥११३॥

क्रोधादि भाव, जिनका क्षय होय कैसा,
साधू विचार करता दिन रैन ऐसा ।
आत्मीय शुद्धात्म चिंतन लीन होता,
प्रायश्चिता वह सही अघ हीन होता ॥११४॥

माया हरो परम आर्जव भाव द्वारा,
औ मान मर्दन, सुमार्दव भाव द्वारा
मेटो प्रलोभ धर तोष, क्षमा सुधा से,
क्रोधाग्नि शान्त कर दो अविलम्बता से ॥११५॥

शुद्धात्म के सतत चिंतन में लगा है
शुद्धात्म ज्ञान करता निज में जगा है
शुद्धात्म बोध कर जीवन है बिताता
प्रायश्चिता नियम से उसका कहाता ॥११६॥

भारी तपश्चरण साधु महार्षियों का,
प्रायश्चिता वह सभी गुणधारियों का ।
क्या क्या कहूँ बहुत भी कहना वृथा है,
है सर्व कर्म-क्षय हेतु यही कथा है ॥११७॥

जो भी शुभाशुभ कुकर्म युगों युगों में,
बांधा हुवा विगत में कि भवों भवों में ।
सम्यक् तपश्चरण से मिट पूर्ण जाता,
प्रायश्चिता इसलिए तप ही कहाता ॥११८॥

आत्मा विनष्ट करता पर भाव सारा,
लेके स्वकीय गुणका रुचि से सहारा ।
सर्वस्व है इसलिए निजध्यान प्यारा,
लेऊँ अत: शरण मैं निजकी सुचारा ॥११९॥

छोड़ी विभावमय राग प्रणालि की भी,
चेष्टा शुभाशुभ सभी वचनावली की ।
पश्चात् स्वकीय शुचि ध्यान लगा रहा है,
वो साधु का "नियम" मित्र सगा रहा है ॥१२०॥



जो ध्यान आत्म गुण का करता निहाला,
हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प-माला ।
देहादि से बन निरीह स्व में बसा है,
कायोतसर्ग मुनि का वह है लसा है ॥१२१॥

वाक् योग-रोक जिसने मन-मौन धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२२॥

हो संयमी नियम औ तप धारता है,
औ धर्म शुक्लमय ध्यान निहारता है ।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२३॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना ।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥१२४॥

भाग्यश्री सम तज के त्रय गृद्धि पाले,
हैं पंचेन्द्रि-प्रणयी समदृष्टि वाले ।
स्थायी सुसामायिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२५॥

जो साधुराज जड़ जंगम जंतुवों में,
सौभाग्यमान धरता समता सबों में ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२६॥

हो संयमी नियम में यम में बिठाता,
जो आत्म को पतन से अघ से उठाता ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२७॥

ये राग द्वेष मुनि में रहते तथापि,
उत्पन्न वे न करते विकृती कदापि ।
स्थायी सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२८॥

लो आर्त रौद्रमय ध्यान नहीं लगाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२९॥

लो पाप पुण्य मय भाव कभी न लाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३०॥

जो शोक को अरति को रति-हास्य त्यागे,
हो नित्य दूर उनसे मुनि नित्यजागे ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली-परम-शासन गीत गाता ॥१३१॥

ग्लानी त्रिवेद भयको मुनि त्यागता है,
हो दूर नित्य उनसे नित जागता है ।
स्थायीं सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१३२॥



जो धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा लगाता,
होना न दूर उनसे यह साधु गाथा ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता ।
यों केवली परमशासन गीत गाता ॥१३३॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत की मुनि श्रावकों से,
जो भक्ति हो नियम-संयम धारियों से ।
निर्वाण-भक्ति उनकी वह है कहाती,
वाणी जिनेन्द्र कथिता इस भाँति गाती ॥१३४॥

सन्मार्ग पे विचरते मुनि साधुवों के,
भेदोपभेद गुण जान यतीश्वरों के ।
होना विलीन उनकी शुचि भक्ति में है,
निर्वाण-भक्ति वह भी व्यवहार में है ॥१३५॥

जो साधु मोक्ष पथ पे निजको चलाता,
निर्वाण-भक्ति-भर में मन को लगाता ।
स्वाधीन पूर्ण-गुण-युक्त निजी दशा को,
पाता नितान्त, कर नष्ट निरी निशाको ॥१३६॥

रागादि भाव परिणामन को मिटाने,
जो साधु यत्न निरंतर है सयाने ।
व योग भक्ति सर में डुबकी लगाते,
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाते ॥१३७॥

संकल्प जल्प सविकल्पन से छुड़ाता,
हो निर्विकल्प निजको निजमें सुलाता,
सो योग-भक्ति सर में डुबकी लगाता ।
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाता ? ॥१३८॥

मिथ्यात्व भाव परिणाम विभाव त्यागे,
हो जैन तत्त्व भर में रत आप जागे ।
सो योग, भाव निज का अभिराम साता,
ऐसा वसन्त तिलका अविराम गाता ॥१३९॥

तीर्थंकरों वृषभ-सन्मति आदिकों ने,
की योग-भक्ति यम संयम धारकों ने ।
पश्चात् बने शिव बने शिव धामवासी
धारो अतः तुम सुयोग बनो उदासी ॥१४०॥

जो इन्द्रियों व मन के वश में न आता,
आवश्यका वह रहा मुनि कार्य साता ।
जो योग है करम नाशक है कहाता,
निर्वाण मार्ग वह आगम यों बताता ॥१४१॥

हो अन्य के वश नहीं अवशी कहाता,
आवश्यका, अवश का वह कार्य भाता ।
है युक्ति का उचित अर्थ उपाय होता ।
ऐसा अवश्यक सयुक्तिक सिद्ध होता ॥१४२॥

वैभाविकी अशुभ आशय बो रहा है,
जो अन्य के, श्रमण हो, वश हो रहा है ।
आवश्यका न उसका वह कार्य होता,
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४३॥

जो साधु, भाव शुभ में रत हो रहा है,
भाई नितान्त पर के वश हो रहा है ।
आवश्यंका, न उसका वह कार्य होता,
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४४॥



पर्याय द्रव्य-गुण में मन है लगाता,
वो भी यती वश रहा पर के कहाता ।
मोहान्धकार परिपूर्ण भगा रहे हैं,
ऐसा कहे श्रमण जो कि जगा रहे हैं ॥१४५॥

सध्यान में श्रमण अन्तरधान हो के,
रागादि भाव पर है पर भाव रोके ।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जानो अवश्यक कहें इन कार्य सारे ॥१४६॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है ।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती,
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥१४७॥

जो साधु ना हि षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥१४८॥

जो साधु सादर अवश्यक धारता है,
सो अंतरातम रहा मन मारता है ।
पै साधु हो नहिं अवश्यक पालता है,
सो है अवश्य बहिरातम, बालता है ॥१४९॥

जो अंतरंग बहिरंग-प्रजल्पधारी,
होता नितांत बहिरातम है विकारी ।
सम्पूर्ण जल्पं भर से अति दूर होता,
सो अंतरातम रहा सुख पूर होता ॥१५०॥

सद्धर्म-शुक्लमय ध्यान-सुधा सुपीता,
सो अंतरात्म सुख जीवन नित्य जीता ।
पै साधु हो तदपि ध्यान नहिं लगाता,
होता नितांतबहिरात्म वही कहाता ॥१५१॥

सामायिकादि षडवश्यक नित्य पाले,
जो साधु निश्चय सुचारित भव्य धारे ।
तो वीतराग शुचि चारित में यमी वो,
शीघ्रताशीघ्र फलतः नित उद्यमी हो ॥१५२॥

आलोचना, नियम आदिक मूर्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्याख्यान ।
स्वाध्याय से सफल है गुरु हैं बताते,
होते विकल्पमय भेद चारित्र तातें ॥१५३॥

संवेग-दारक यथोचित शक्तिवाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले ।
ऐसा नहीं यदि बने उर धार लेना,
श्रद्धान तो दृढ़ रखो अघ मार देना ॥१५४॥

सामायिकादि विधि की कर लो परीक्षा,
सो जैन शास्त्र कहता बन के निरीच्छा,
योगी बने इसलिये मन मौन धारो,
साधो स्वकार्य नित पै अघ को न धारो ॥१५५॥

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है ।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से अनुज से परसे अरी से ॥१५६॥



ज्यों वित्त को खरचता निज पोषणों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में,
पा नित्यज्ञान निधि, नित्य नितांत ज्ञानी,
त्यों भोगता न रमता पर में अमानी ॥१५७॥

जो भी पुराण पुरुषोत्तम रे हुये हैं,
सामायिकादि षडवश्यक वे किये हैं ।
समादि पूर्ण गुणथान पुनः चढ़े हैं,
हैं केवली बने फिर हम से बढ़े हैं ॥१५८॥

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते,
हैं जानते सकल विश्व निहार पाते,
पै केवली नियम से निजको अमानी,
हैं जानते निरखते पर को न ज्ञानी ॥१५९॥

ये ज्ञान दर्शन स्वयं जिन के, बली के,
हो एक साथ सुन मित्र सु केवली के ।
होते प्रभाकर प्रकाश प्रताप जैसे,
देते सभी सदुपदेश अपाप ऐसे ॥१६०॥

होता सदेय यह ज्ञान परप्रकाशी,
होता नितांत यह दर्शन स्वप्रकाशी ।
आत्मा तथा स्वपर का रहता प्रकाशी,
ऐसा कहो यदि अरे ! विषयाभिलाषी ! ॥१६१॥

तू ज्ञान को परप्रकाशक ही कहेगा,
तो ज्ञान से पृथक दर्शन ही रहेगा ।
औ अन्य-द्रव्यगत दर्शन भी नहीं है,
यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६२॥